

कुबेरनाथ राय के साहित्य में धार्मिक मान्यताएँ

Sushma^{1*} Dr. Meenu²

¹ Research Scholar, OPJS University, Churu, Rajasthan

² Assistant Professor, OPJS University, Churu, Rajasthan

सार – प्राचीन काल से ही धार्मिक कार्यों का हमारे जीवन में स्थान रहा है। ये धार्मिक कार्य ऐसे पुण्य हैं जिनसे हम लोक तथा परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। समाज में रहते हुए मनुष्य इन कार्यों को भी महत्त्व देता है तथा जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। यज्ञ करवाना, पाठ करवाना, कथा करवाना, व्रत रखना आदि धार्मिक कार्य हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये हमारी संस्कृति के परिचायक होते हैं। इन दोनों का उद्देश्य सामाजिकता कायम करना, प्रेम, भाईचारा, सद्भावना का प्रचार करना है। व्रत और कथाएँ धार्मिक कार्यों के अन्तर्गत आती हैं। नवरात्र, करवा चौथ, शिव चैदस, एकादशी व्रत आदि के द्वारा हमारे मन में पवित्रा विचार आते हैं।

-----X-----

धार्मिक मान्यताएँ:

समाज में किए जाने वाले अनेक कर्मकाण्ड व पूजा पद्धति भी धार्मिक अनुष्ठान के अंग हैं। डॉ. गौरी शंकर ओझा, विद्या निवास मिश्र, बाल कृष्ण भट्ट, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि लेखकों ने भारतीय संस्कृति के इन पहलुओं पर लेखनी चलाई है।

कुबेरनाथ जी ने भी इस विषय को अपने लेखन का विषय बनाया है। दुर्गापूजा के उद्गम पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं-‘दुर्गा-उपासना एवं दुर्गा-पूजोत्सव का विकास हुआ है अनार्य नारियों द्वारा पूजित कृषि मातृ का भूमि की पूजा से। आर्यों के आगमन से पूर्व निषाद बन्धुओं ने गंगा तट की बस्तियों में फसल और उर्वरता की देवी के रूप में धारित्री की पूजा की थी। घर सजाकर और घर के चारों ओर शस्य बोकल उस पर पूर्ण कुंभ रखते हैं, पूर्ण कुंभ पर शस्त्र-पात्र और ऊपर नारिकेल या रक्षादीप। घर को सिन्दूर से ठीक देते हैं। इसी घर में देवी की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। इस घर के चारों ओर अल्पना या सर्वतोभद्र मंडल का घेरा कल्पलता के द्वारा सज्जित रहता है। लता या वल्लरी नारीत्व का प्रतीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दुर्गापूजा के कल्प में पुरानी भूमि पूजा के, शस्य तथा उर्वरता की देवी की पूजा थी, छूटे-छिटके चिह्न अब भी चले आ रहे हैं।’[1] समय के साथ-साथ उपासना पद्धति में आए परिवर्तन को दर्शाते हुए श्री राय जी कहते हैं-‘आज के बीस-तीस वर्ष पहले यह शूकर बलि लेती थी, पर आज इसकी उपासना शुद्ध द्विज पद्धति से होती है। षोडशोपचार और हवन मात्रा। यदि कोई तन्त्र पद्धति से पूजना ही चाहता है तो माँस के स्थान पर उड़द और कारन ;मदिराद्ध के स्थान पर ब्राह्मण सोंठ और गुड़ तथा क्षत्रिय नारियल पानी दे देता है। जैसा कि तन्त्राचार

का आदेश है। आज जबकि चमारों और दुसाधों ने पंचायत करके गाँव-गाँव में कठोर निर्णय ले लिया कि वे माँस नहीं खाएंगे। प्रायः प्रत्येक चमार टोली में रात को तुलसीकृत रामायण का पाठ होता है और सभी निम्नवर्ग अपने को आर्यत्व की दीक्षा में प्रस्तुत करने पर तुले हुए हैं। इस मातृका की किरात मत से उपासना करने का प्रश्न ही नहीं उठता।’[2]

इस प्रकार समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन आता जा रहा है। अब बलि प्रथा में वे विश्वास नहीं रखते। उन्हें वास्तविकता का ज्ञान हो गया है। इसकी अपेक्षा वे ईश्वरीय शक्ति में विश्वास रखते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी वे भगवान को ही श्रेष्ठ मानते हैं। इसी विषय में श्री राय कहते हैं-‘भाड़ में जाए बॉयलॉजी। हरिइच्छा क्या तुम्हारी बॉयलॉजी के अधीन हैं? उनकी मर्जी हो तो मटर की लता में गुड़ की भेलियाँ फलें। भगवान चाहे तो सब संभव है।’[3]

आस्तिकता:

ईश्वर में विश्वास रखना अस्तिकता कहलाती है। भारतीय संस्कृति आस्तिकता के दर्शन पर आधारित है। प्रारंभ में मनुष्य प्रकृति के विनाश से बचने के लिए उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी पूजा करता है, धीरे-धीरे उसे प्रकृति के सहज रूप का ज्ञान होने लगा और उसे (एक शक्ति) देवी-देवता के रूप में पूजने लगा। इस प्रकार उसकी आस्था को बढ़ावा और साकार रूप मिलने लगा। वह ईश्वर के इस रूप को पहचानने लगा तथा महसूस करने लगा कि प्रभु की करुणा को हम आस्था और धैर्य के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं तथा उसकी कृपा हम पर

अवश्य बनी रहती है। इसी विषय में चर्चा करते हुए कुबेरनाथ राय जी लिखते हैं-‘मुझे विश्वास हो गया कि घनघोर निराशा, सुचीभेद्य भय और विकराल आतंक के मध्य में भी रक्षा करने वाले की दक्षिणपाणि सदैव सक्रिय है तथा कोमल कण्ठ कवियों, निष्पापों और शिशुओं की रक्षा में वह नित्य अभय मुद्रा में उठी हुई है। अतः भय और हताशा का कोई कारण नहीं। धीरता चाहिए, युधिष्ठिर जैसी शिलावत दृढ़ धीरता। धैर्य ही जीवन का स्रोत है। अतः विश्वास करो और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो। प्रभु की करुणा नित्य सक्रिय है। परन्तु वह अनुभूत होती है आस्था और धैर्य के माध्यम से।’[4]

कुबेरनाथ जी का मानना है कि मनुष्य के उद्धार का मार्ग उसकी आस्तिकता की भावना है। ईश्वरीय शक्ति ही उसे कष्टों में लड़ने का साहस प्रदान करती है। चाहते हुए भी मनुष्य ईश्वर से दूर नहीं रह सकता। आस्तिकता मनुष्य का आन्तरिक गुण है-यथार्थ बोध, इतिहास चेतना, आसपास का ‘भवति’ प्रवाह इन सबके माध्यम से कोई भी दिशा या राह स्थिर करने में हम असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे में उद्धार का एक ही मार्ग है और वह है किसी तरह से अपनी चेतना को ईश्वर के स्पर्श में लाना, किसी भाँति अपने बोध में दिव्यानुभूति का अवतरण कराना। ईश्वर को लाख अस्वीकार करो, वह तो हमें छोड़ता नहीं, क्योंकि वह ‘बाहरी’ कुछ भी नहीं, वह तो भीतरी का भीतरी है, अन्तर्तम की सहस्रपफण शैया पर सो रहा है। किसी तरह से अपनी चेतना उस तत्त्व के सीमान्त में भी पहुँच जाए तो उसका प्रबल आकर्षण स्वतः उसे खींच लेगा और सचेत ईश्वर बोध से सम्पन्न व्यक्ति किसी प्रकार के शोक, मोह और भय से लड़ सकता है और उन्हें बाहु युद्ध में पराजित कर सकता है। जब मन में ईश्वर उतर जाता है, तो सारे काल बल, ग्रह बल, अरिष्ट बल नतमस्तक हो जाते हैं और कृष्णकाय क्रूर कलियुग की तरह सीमा प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाते।[5] आस्तिकता की यह भावना केवल ईश्वर आराध्य देव और ईष्ट तक ही सीमित नहीं है। जीवन जगत यानि संसार या सृष्टि के अस्तित्व में आस्था भी आस्तिकता के अन्तर्गत आती है। इस संदर्भ में कुबेरनाथ के शब्द ध्यातव्य हैं-‘यह जीवन एक यज्ञ है। तुम इस जीवन के हरेक क्षण को पवित्रा छवि मानकर जीना, तुम ऐसे जीना मानो गोया जीवन ही एक अविराम यज्ञाहूति हो। यह देवताओं का, इन्द्र का, सोम वरुण का है यह तुम्हारा नहीं, तुम माध्यम हो उस छवि के परन्तु स्मरण रखना यह देव भोग्या छवि कहीं भी अपवित्र न हो, तुम ज्येष्ठ हो, वरिष्ठ हो, तुम्हारे ही अन्दर वह क्षमता है कि यज्ञरूप विष्णु की विभूति अग्नि तुम्हारे अन्दर प्रतिष्ठित हो सके।’[6]

ईश्वर में अविश्वास के कारण मनुष्यों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है, हमारे मन में अनेक प्रकार के विचार चलते रहते हैं। ईश्वर के होते हुए ही ये अवदमन हम पर हावी नहीं

हो सकते। धर्म के चार प्रमूल्य स्वीकार किए गए हैं-अहिंसा, करुणा, मैत्री, ईश्वर। इन प्रमूल्यों में ईश्वर अति आवश्यक है क्योंकि इसके बिना अन्यो का कोई अस्तित्व नहीं। इसी विषय में राय जी कहते हैं-‘एक हॉ-धर्मी शब्द चाहिए, महाधर्म की एक भिन्न अवधारणा चाहिए जिसकी अपेक्षा भविष्य की महापृथ्वी को है। इस महाधर्म के भीतर मुख्यतः चार प्रमूल्य स्वीकृत होंगे-अहिंसा, करुणा, मैत्री और ईश्वर। इनमें तीन तो बौद्ध महायान के स्वीकृत मूल्य ही हैं। चौथा प्रमूल्य ईश्वर भी आवश्यक है क्योंकि बिना इसके यह धर्म टिकाऊ नहीं होगा और बिना इसके इस भूमण्डल पर असंख्य बौने, क्षुद्रकाय ‘मानुषी’ ईश्वरों की नई कौम पैदा हो जाने का खतरा सर्वथा रहेगा। जब-जब मनुष्य ने ईश्वर का तिरस्कार किया है तब-तब से किसी बौने क्षुद्रकायी मानुषी ‘ईश्वर’ के कोड़े खाने पड़े हैं। एक परात्पर, अरूप ईश्वर का रहना मनुष्य के मन की स्थायी तृषा है अतः ईश्वर भी चाहिए। तभी शेष तीनों प्रमूल्य अहिंसा, करुणा और मैत्री भी टिकाऊ हो पाएँगे।’[7]

कुबेरनाथ राय जी की आस्था श्री राम में है, यद्यपि राम और कृष्ण दोनों को समान मानते हैं फिर भी वर्तमान समय में जिस चरित्र की आवश्यकता है वह हमें श्री राम में ही मिल सकता है। अतः अपनी आस्तिकता श्री राम के प्रति प्रकट करते हुए वे लिखते हैं-‘हम चाहे Democracy में विश्वास करें तथा Totalitarian पद्धति में, चाहे Socialist State में जिए या Communism में, हर हालत में ईमानदार नागरिक चाहिए, ईमानदार सेवक चाहिए, अच्छा भाई चाहिए, सदाचारी पति चाहिए, सती पत्नी चाहिए, आदर्श भाई-पिता-माता-पुरजन-परिजन चाहिए। राजनीतिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था बदलने से ये आवश्यकताएँ बदल नहीं जातीं। अतः ये सब चाहिए ही। इस दृष्टि से भी हम सोचे तो लगता है हमारी नाव डूबने से बच सकती है। यदि रामचन्द्र हमारे आदर्श हों, यदि राम का आदर्श ही हमारा आदर्श हो और यह बात मुझे प्रेरित करती है, यह कहने के लिए कि सामाजिक और ऐतिहासिक अवस्था बदल चुकी है, अतः आज हमें-श्रीकृष्ण को नहीं . . . राम को ही पूर्णावतार मानना चाहिए। रामचन्द्र ही पूर्णावतार हैं। श्री कृष्ण नहीं। श्री कृष्ण का जीवन अवतार की पूर्णता का द्योतक है ही नहीं।’[8] श्री राम से प्रभावित होने के कारण ही ये रामायण को गृहस्थ जीवन का आदर्श मानते हैं। श्री राम के शब्दों में -‘रामायण का जीवन दर्शन है-अनासक्त पुरुषार्थ योग। रामायण गृहस्थ धर्म का महाकाव्य है। गृहस्थ धर्म-अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष समन्वित पुरुषार्थ धर्म है। इसे अनासक्त भाव से निभाना ही सही गृहस्थ धर्म है। यही रामायण का जीवन दर्शन है।’[9] राम और रामायण के महत्त्व को दर्शाते हुए कुबेरनाथ जी कहते हैं-ऐतिहासिक रामावतार

और राम का ग्रन्थावतार रामायण-काव्य रूप में, दोनों का उद्देश्य है-धर्म संस्थापनार्थ साक्षात् विग्रहवान धर्म की मूर्ति प्रस्तुत करना। राम मोक्ष, धर्म की स्थापना के लिए नहीं अवतरित होते हैं बल्कि सामान्य जन के गृहस्थ धर्म के लिए उनका अवतार हुआ था और इसी दृष्टि से सही धर्म है पुरुषार्थ योग। अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों के सन्तुलन द्वारा उपस्थित धर्म ही सही धर्म है। वाल्मीकि इसी धर्म के प्रस्तावक हैं। राम का जीवन अर्थ-धर्म-काम मोक्ष की अनासक्त उपासना का प्रस्तावक है।[10]

भक्ति:

कुबेरनाथ राय, डॉ. सत्येन्द्र, विष्णु उपाध्याय आदि अनेक निबन्धकारों ने भक्ति के स्वरूप की चर्चा अपने निबन्धों में की है। भक्ति की महत्ता को देखते हुए वैष्णवों ने मोक्ष की बजाए भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। इसी बात को दर्शाते हुए वे लिखते हैं-वैष्णवगण मोक्ष के स्थान पर भक्ति को ही विकल्प रूप में चैथा पुरुषार्थ मानते हैं। अर्थ और धर्म का विवेचन तो सभा में सबके सम्मुख होता है। काम को वैष्णव गृहस्थ धर्म में भक्ति और दाम्पत्य इन दो रूपों में ही स्वीकारा गया है। रामायण गृहस्थ धर्म का महाकाव्य है जबकि यतियों और योगियों का काव्य है श्रीमद्भागवत। काम के धर्म-सम्मत रूप में दाम्पत्य का विवेचन होता है अनुसूया प्रसंग में। भक्ति का विवेचन नहीं बल्कि दिग्दर्शन या साक्षात् तुलसी कराते हैं भरत के द्वारा।[11]

भक्ति को प्रेम का उज्ज्वलतम रूप तथा आत्म ग्लानि से छुटकारा पाने का माध्यम बताते हुए कुबेरनाथ जी कहते हैं-व्यक्तिगत आत्मग्लानि से जो अवदमन का पूर्व रूप होती है, छुटकारा पाने का साधन है प्रेम या भक्ति। भक्ति प्रेम का ही उज्ज्वलतम रूप है। दोनों में अवलम्बन भेद मात्रा होता है। कभी-कभी तो प्रेम महत् कर देता है। रामायण के विषाद योग के ये दो पहलू हैं-अराजकता का संत्रास और भरत की हताशा तथा आत्मग्लानि। प्रथम का समाधान है 'शीले', दूसरे का 'भक्ति'। राम मूर्तिमान शील हैं और भरत मूर्तिमान भक्ति। दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं। शील रिक्त भक्ति रामायण का अभिप्रेत नहीं और भक्तिहीन शील एक असंभव कल्पना होगी।[12]

गौडिय वैष्णव भक्ति में परकीया प्रेम को महत्त्व दिया गया है। यह प्रेम एकमात्र प्रिय की सुखानुभूति होता है और इस अवस्था में महाभाव कहा जाता है। इसी सम्बन्ध में श्री राय कहते हैं-गौडिय वैष्णव साधना मधुर भाव की साधना है। उसका आधार है कान्ता रानी। इसमें महाप्रभु ने परकीया प्रेम को श्रेष्ठतर इसलिए माना है कि बन्धन के कारण स्वकीया से कहीं अधिक इसमें आवेग रहता है। परकीया रति में यह स्वसुखानुभूति-आश्रित नहीं है, जैसा कि कुछ माधव वैष्णवों में मिलता है यह तो एकमात्र प्रिय की

सुखानुभूति के लिए है। महाप्रभु ने इस अवस्था का नाम महाभाव दिया है।[13]

कुबेरनाथ जी तुलसीदास जी की दास्य भक्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं-तुलसीदास ने दास्य भक्ति के अन्दर सम्पूर्ण समर्पण और अनन्य गति पर जोर दिया है। 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ विश्वासा' 'तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथा।' आदि पंक्तियों में उन्होंने अनन्यता का समर्थन किया है। शंकर देव ने भी प्रत्येक स्थल पर इसी भाव को 'एकशरण' धर्म कहकर प्रसारित किया है। शंकर देव ने तुलसीदास से कहीं अधिक कट्टरता से इस 'एक शरण' एवं अनन्यता का प्रतिपादन किया है। तुलसीदास की अनन्यता व्यक्तिगत है। लोक-साधना के प्रश्न पर वे उदार थे और शिव शक्ति या अन्य सम्प्रदाय वालों का भी समादर करते थे। पर शंकर देव इस माने में ज्यादा कट्टर थे। आज एक महापुरुषिया वैष्णव या गृहस्थ 'दुर्गा' या शिव के मन्दिर के सम्मुख शीश झुकाना नहीं पसंद करता, विशेषतः दुर्गा या काली के सम्मुख।[14]

कर्म का महत्त्व:

मनुष्य का जन्म किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह निरन्तर कर्म में लिप्त रहता है। भारतीय जीवन दर्शन में कर्म को बहुत महत्त्व दिया गया है। कर्म के बीज मनुष्य के शरीर में है। वह जैसा कर्म करेगा वैसा ही पफल प्राप्त करेगा। कर्म में विश्वास करने वाला व्यक्ति भाग्य के भरोसे नहीं रहता। कृष्ण के उपदेश का संकेत देते हुए कुबेरनाथ जी कहते हैं-इस कथा का संकेत है कि कर्म के बीज मनुष्य के शरीर में है। यदि वे विष्णु को अर्पित करके बोए जाएंगे तो उन की सफल शुभ देगी। तब उस अवस्था में मनुष्य के व्यष्टि चित्त के साथ विश्व चैतन्य जुड़ जाता है, उसकी इच्छा विश्व चैतन्य की इच्छा हो जाती है, उसके हाथ ईश्वर के हाथों के साथ जुड़ जाते हैं। तब कर्मों की यह खेती नर और नारायण की संयुक्त खेती हो जाती है और खूबी तो यह कि नर के हल द्वारा पफाड़ी गई हराई में मनुष्य 'भगवान की जो इच्छा' का दास नहीं रह जाता बल्कि ईश्वर उसकी इच्छा के पीछे-पीछे अपना बल लगाते चलते हैं।[15]

कर्मों का निर्वाह न केवल मनुष्यों अपितु भगवान को भी करना पड़ता है। वे भी इस बंधन से मुक्त नहीं हो सकते। इसी सम्बन्ध में राय जी कहते हैं-प्पर हमारी सत्ता तो परिभाषित होती है। इस भारत वर्ष के द्वारा, जिसकी वैदिक संज्ञा है 'कर्मभूमि'। यह भारत वर्ष कर्मभूमि है। यह मुक्त भोग भूमि नहीं। यहाँ कर्म का बंधन है। यह बंधन ही यहाँ का व्रत है। भगवान तक यहाँ कर्म से मुक्त नहीं। अतः इस कर्मभूमि में जो

उत्तरकुरु या कदलीवन का स्वप्न देखता है अथवा प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करता है तो वह इस भारत भूमि के आत्मधर्म के विपरीत जाता है। . . . अतः भोग नहीं कर्म ही महान् है। कर्म ही उपास्य है। कर्म ही मधुमय है। परिश्रम द्वारा लब्ध रूखी-सूखी रोटी भी मीठी लगती है।[16]

कर्म को जीवन का आधार माना गया है। इसकी महत्ता को दर्शाते हुए श्रीराय लिखते हैं-इसे सभी स्वीकार करते हैं कि निरर्थक तो केवल सुन्दर होने पर रम्य होता है, जैसे रेखाओं की कल्पवल्ली, केशसज्जा, शिशु-भाषा, पिकनिक और चुम्बन। निरर्थक सुन्दर के आस्वादन में उतनी ही मौज आती है जितनी छुट्टी के आस्वादन में। पर जो अर्थवान है वह दारुण और असुन्दर होने पर भी रम्य लगता है। उसकी रम्यता के लिए सुन्दरता जरूरी नहीं। ताण्डव मुद्रा, सहस्रफण, खांडवदाह, युद्ध, शमशान आदि के भीतर अर्थ की रम्यता है। अर्थगमी रम्यता का आस्वादन कर्म का आस्वादन है। यह कठोर होते हुए भी, दारुण होते हुए भी, कर्म के स्वादिष्ट तथ्य से सम्पृक्त है। यदि कर्म न रहे तो दो दिन बाद जीने की तबियत ही न रहेगी। यही कारण है कि दारुण से दारुण अर्थ भी कहीं न कहीं जाकर रम्य हो उठता है।[17]

कुबेरनाथ राय जी एक पौराणिक कथा के माध्यम से कर्म और कर्मभूमि की महत्ता को दर्शाते हुए कहते हैं-नारद जी ने सबको समझा-बुझाकर शान्त किया। यों तो बलराम मानते नहीं थे। पर किसी तरह वे भी रास्ते पर आ गए। तब सबको सुव्यवस्थित करके नारद जी का साहित्यिक हिन्दी में भाषण हुआ-‘यादवों पारिजात नकली नहीं था, असली ही है। परन्तु इस धरती पर आकर उसका प्राण-धर्म बदल गया हैं धरती की माया है, जन्म, प्रणय और मृत्यु। सो इस माया का प्रवेश इस स्वर्ग परिजात में भी धरती की जलवायु में आते-आते हो गया। . . . धरती कर्मभूमि है और देवलोक भोगभूमि। भोगभूमि में कल्पवृक्ष बिना किसी विशेष प्रयत्न के अपने आप बढ़ता है, फूलता है और मुड़ाता नहीं। परन्तु धरती पर तो इसे आलबाल बनाकर पानी देना होगा, समय-समय पर गोड़ना होगा। तब यह हरा-भरा रहेगा। इसे गहगहा कुसुमित और हराभरा रखना है तो कर्म जल से इसे सिंचित करो-धरती के धर्म का निर्वाह करो। यहाँ पर आकर पारिजात अपने स्वभाव को धरती के अनुरूप ढाल खुका है। . . . यह तो कर्मभूमि है। अतः स्वर्ग पारिजात यहाँ आकर कर्म पारिजात हो गया तो पिएर आश्चर्य क्या?’[18]

काम का महत्त्व:

भारतीय दृष्टि के अनुसार मनुष्य जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। इसीलिए वह निरन्तर कर्म में लगा रहता है। इन चारों पुरुषार्थों का अपना-अपना महत्त्व है। धर्म,

अर्थ, मोक्ष की भाँति काम को भी जीवन में बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। जीवन और साहित्य को काम के बिना अधूरा माना गया है। इसकी महत्ता को देखते हुए इसे प्रभु का दूसरा रूप बताया गया है। इसी विषय में कुबेरनाथ जी अपने एक निबन्ध में लिखते हैं-फिर कवि ने नारायणीय तत्त्व पर नए सिरे से विचार करना शुरू किया। धीरे-धीरे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन्होंने समूचे आर्यावर्त को कर्मयोग और चतुर्पुरुषार्थ के सन्तुलन की शिक्षा दी है, अपने शिष्यों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चतुरंग उपासना का अनुशासन दिया है, परन्तु स्वयं उनके ही जीवन में और साहित्य में यह अधूरी रही है, कामतत्त्व उपेक्षित रह गया है। ‘प्राणियों में सक्रिय धर्म सम्मत काम में ही हूँ भगवान के मुँह से गीता में ऐसा प्रतिपादन कराने के बावजूद। अतः अंतर के प्रभु का आदेश है कि वे जीवन और साहित्य दोनों में काम को स्वीकृति देकर इस अधूरेपन को समाप्त करें।[19]

शील का महत्त्व:

कुबेरनाथ जी ने शील को जीवन का आधार माना है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शील युक्त है उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। वह दुःखों, कष्टों, काम, ग्लानि आदि से विचलित नहीं होता। शीलाचारी व्यक्ति सत्य के रास्ते पर चलकर अमरता को प्राप्त करता है। शील, सत्य और सौन्दर्य आपस में जुड़े हुए हैं। ‘मनुष्य के नए दर्द तथा ऐतिहासिक संदर्भ एवं प्रासंगिकता के नाम पर ‘नयी नैतिकता’ की बात को केवल तत्कालीन राजनीतिक संदर्भ पर ही सीमित रखा जा सकता है। इस प्रकार यह शील के इस अर्थ से नहीं जुड़ पाती, जिससे व्यक्ति चरित्र का निर्माण हो सके, जिससे अच्छे आदमी की रचना हो सके। मैं यहाँ पर जिस शील सौन्दर्य की बात कर रहा हूँ, वह नागरिक के व्यक्तिगतशील के सन्दर्भ में है। यह अधिक बुनियादी बात है, जिसे आधुनिक चिन्तन में महात्मा गाँधी को छोड़कर अन्य किसी ने भी महत्त्व नहीं दिया। . . . तथ्य तो यह है कि शील बोध और सौन्दर्य बोध में कोई लड़ाई ही नहीं सच्चा सौन्दर्य शील से हीन होता ही नहीं। स्पष्ट करते हुए वे अन्य स्थान पर लिखते हैं किजो जितना ही शीलयुक्त है, वह उतना ही सुन्दर है।[20] शील सौन्दर्य से जुड़कर ही सार्थक होता है। मात्र सौन्दर्य प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं। ‘कोरी सौन्दर्य साधना, कोरा सौन्दर्य बोध निरर्थक है। इसे शील से जोड़कर ही रचनात्मक और मंगलमय बनाया जा सकता है। . . . अतः मात्र सौन्दर्यबोध और भोगवाद हमारी जीवन साधना के लक्ष्य नहीं हो सकते। इनसे मनुष्य न तो तुष्ट-पुष्ट होगा और न ही अहिंसक और निरुज ही। अहिंसा मानसिक निरुजता का लक्षण है, हिंसा क्षुधाकामी विकल मन का। अवश्य ही मैं ‘रस’ का प्रबल समर्थक हूँ। मैं रस को यानी सौन्दर्यबोध को मनुष्यत्व का, मनुष्य के अन्दर अन्तर्निहित

वैष्णवता का, अनिवार्य लक्षण मानता हूँ। परन्तु अकेले नहीं, एकांगी और एकमात्र रूप में नहीं। कर्मभूमि और मानुषी धरती में इसे त और शील से न होकर चलना पड़ेगा। शील रहित सौन्दर्य अनृत है। भव्य होते हुए भी यह दिव्य और रम्य नहीं।[21] शील के इन्हीं गुणों के कारण श्री राय ने इसे मुक्ति का पथ माना है तथा भक्ति और शील को परस्पर सहयोगी स्वीकार किया है। इसी संदर्भ में श्रीराय अपने एक लेख में कहते हैं-‘रामायण के अनुसार सामूहिक संत्रास से मुक्ति का पथ है-शील यानि धर्माचरण। ‘स्वल्पं अपि धर्मस्य त्रायते महतो भयात्’- शील या धर्म ही महान् भय के संतरण की नौका है। कौसलया भी अपने स्वस्तिवाचन के प्रारंभ में यही कहती है कि अभय का स्रोत शील, उपासना और अर्जित विद्या में निहित है। . . . रामायण के विषाद योग के ये ही दो पहलू हैं-अराजकता का संत्रास और भरत की हताशा तथा आत्मग्लानि। प्रथम का समाधान है-‘शील’, दूसरे का ‘भक्ति’। राम मूर्तिमान ‘शील’ हैं और भरत मूर्ति मान ‘भक्ति’। दोनों एक-दूसरे के सहयोगी हैं। शील रिक्त भक्ति रामायण का अभिप्रेत नहीं और भक्तिहीन शील एक असंभव कल्पना होगी।’[22] श्री राय ने शील को ईश्वर का दूसरा रूप तथा ईश्वर से जुड़ा हुआ माना है-‘दूसरी ओर वामपंथी कंठमुल्लाशाही हमारे चिन्तन की शब्दावली, वर्णमाला, पद्धति और अर्थ को अपने-अपने क्षमतागत स्वार्थ के अनुसार निर्धारित या स्थिरीकृत रूप देकर उसे हमारे मन में जमा रही है। कोई तर्क कर सकता है कि ऐसा सब तो प्राचीन काल में इसाई चर्चा या वैष्णवों ने भी अपने-अपने देश में किया था। सही बात है। परन्तु वे इसका प्रयोग ‘क्षमता’ या ‘राजसिंहासन’ नहीं एक विशिष्ट शील की स्थापना के लिए थे और यह शील किसी भौतिक शक्ति या पुरुष से न जुड़कर एक सार्वभौम निर्गुण निराकार सत्ता ईश्वर से जुड़ा था।’[23]

संदर्भ सूची:

1. कुबेरनाथ राय, निषाद बांसुरी, पृ. 79
2. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकंठी, पृ. 64
3. कुबेरनाथ राय, किरात नदी में चन्द्रमधु, पृ. 59
4. वही, पर्णमुकुट, पृ. 99
5. कुबेरनाथ राय, दृष्टिअभिसार, पृ. 33
6. कुबेरनाथ राय, त्रेता का वृहतसाम्, पृ. 54
7. वही, मराल, पृ. 101
8. कुबेरनाथ राय, रामायण महातीर्थम्, पृ. 297

9. वही, त्रेता का वृहत्साम, पृ. 123
10. कुबेरनाथ राय, त्रेता का वृहत्साम, पृ. 110
11. कुबेरनाथ राय, त्रेता का वृहत्साम, पृ. 178
12. वही, पृ. 174
13. वही, प्रिया नीलकंठी, पृ. 32
14. कुबेरनाथ राय, वाणी का क्षीर सागर, पृ. 16
15. कुबेरनाथ राय, उत्तरकुरु, पृ. 119
16. वही, पृ. 05
17. वही, रस-आखेटक, पृ. 128
18. कुबेरनाथ राय, रस आखेटक, 30
19. वही, दृष्टि अभिसार, पृ. 41
20. वही, किरात नदी में चन्द्रमधु, पृ. 26
21. कुबेरनाथ राय, उत्तर कुरु, पृ. 06
22. वही, त्रेता का वृहतसाम, पृ. 174

Corresponding Author

Sushma*

Research Scholar, OPJS University, Churu, Rajasthan